जैन-दर्शन में काल-चक्र के १२ विभाग हैं जबकि वैदिक चिंतन में १४ विभाग हैं; इस का कारण आरंभ और मध्य बिंदु है जो वैदिक मन्वंतर-विज्ञान के १४ विभागों को समक्ष रखता है।

इसी संदर्भ में एक तथ्य यह है कि यहाँ पक रेखीय-काल गति (जो प्रत्येक विभाग में है) भी है और चक्रीय भी। जहाँ तक आवर्त्तन चक्र का प्रश्न है, रेखीय और चक्रीय गतियाँ सापेक्ष हैं, उन्हें मेरे विचार से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता है। वे मानव अनुभव और विश्व-संरचना में सापेक्ष हैं।

अतः उपर्युक्त विवेचन के अनुसार जैन-दर्शन में काल की अवधारणा का एक व्यापक भौतिक आधार है जो मनुष्य क्षेत्रीय एवं ज्योतिष क्षेत्रीय काल-रूपों को सापेक्ष रूप में प्रस्तुत करता है, और काल के निरंतर गतिशील रूप या आवर्तन को समक्ष रखता है जो मेरे विचार से भारतीय चिंतनधारा की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है। इसके अलावा, कालाणु की धारणा, काल और समय का सम्बन्ध तथा काल-चक्र का संदर्भ-ये ऐसे प्रत्यय हैं जो काल के व्यापक संदर्भ को रेखांकित करते हैं। इसी के साथ, काल गणना का रूप अपने में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो आधुनिक विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है।

जैन-दर्शन में काल को द्रव्य के रूप में ग्रहण किया गया है और पदार्थ के सारे परिणमन एवं प्रक्रमों में काल एक सहकारी तत्त्व है। यह स्थापना काल को भौतिक क्रियाओं तथा परिणमनों से जोड़ती है। चेतना के स्तर पर काल का यह जागतिक-भौतिक रूप एक सत्य है, तो दूसरी ओर, चेतना के ऊर्ध्व स्तर पर काल का पराजागतिक या अनंत रूप भी एक सत्य है। चिंतन की द्वन्द्वात्मक गति में काल के ये दोनों रूप सापेक्ष हैं, लेकिन यह भी एक सत्य है कि बिना जागतिक काल के हम पराजागतिक काल की प्रतीति नहीं कर सकते। सृजन और विचार के क्षेत्र में यह सत्य है। जागतिक दिक्-काल के बिम्ब, वस्तुएँ और पदार्थ ही वे आधार हैं जिनके द्वारा हम पराजागतिक प्रतीतियों से साक्षात् करते हैं। इन दोनों काल रूपों में से जब हम किसी एक रूप को अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो असंतुलन के शिकार होते हैं जो हमें विचारों के इतिहास से स्पष्ट होता है। यहाँ पर भी एक सम्यक्-दृष्टि की आवश्यकता है।

५ झ-१५, जवाहर नगर
जयपुर ३०२ ००४

●●

ध्यान योग : दृष्टि और सृष्टि

-स्वामी अनन्त भारती

ध्यान शब्द चिन्तनार्थक ध्यै धातु से भाव अर्थ में अन (ल्युट्) प्रत्यय करके बनता है। जिसका यौगिक अर्थ है चिन्तन करना, याद करना। साधकों की परम्परा में ध्यान शब्द पारिभाषिक अर्थ में अर्थात् एक सुनिश्चित विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत निबन्ध में उस विशेष अर्थ पर ही विचार किया जा रहा है।

योगसूत्र के लेखक महर्षि पतञ्जलि ने योग के जिन आठ अंगों की चर्चा की है, उनमें ध्यान सातवाँ अंग है, जिसकी साधना धारणा के बाद की जाती है। पतञ्जलि द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार किसी आन्तर या बाह्य देश में चित्त का स्थिर करना धारणा है। (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।-यो. सू. ३.१) जब चित्त उस स्थल में कुछ काल तक स्थिर होने लग जाये तो उस स्थिति को ध्यान कहते हैं। (तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३.२) इस प्रकार ध्यान धारणा की उत्तरपीठिका है, बाद की स्थिति है। ध्यान के बाद समाधि की स्थिति मानी गयी है है। इस स्थिति में चित्त में इतनी एकाग्रता आ जाती है कि चित्त में अर्थमात्र ही अवभासित होता है। अर्थ के नाम, रूप आदि विकल्प चित्त से विलीन हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में अर्थ स्वरूप शून्य होकर अवभासित होता है। समाधि के अनेक स्तर है। प्रथम स्तर में स्थूल पदार्थ में चित्त की पूर्ण एकाग्रता (निश्चलता) होती है, द्वितीय स्तर में स्थूल विषय लुप्त-सा हो जाता है, तृतीय स्तर में चित्त की स्थिरता का विषय सूक्ष्म पदार्थ परमाणु तन्मात्रा आदि होते हैं। चतुर्थ स्तर में सूक्ष्म विषय भी लुप्त हो जाता है। पंचम स्तर में केवल आनन्द की अनुभूति होती है। छठे स्तर में आनन्द भी लुप्त-सा हो जाता है। सातवें स्तर में केवल अस्मिता मात्र का अवभासन होता है। इन्हें क्रमशः सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्दा, निरानन्दा और अस्मिता मात्र समाधि कहते हैं। ये सातों समाधियाँ सम्प्रज्ञात समाधि के भेद हैं। इनके बाद असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। इस क्रम में ध्यान चित्त की एकाग्रता की बहुत प्रारम्भिक स्थिति है।

सांख्य सूत्र में मन के निर्विषय होने को ध्यान कहा गया है (ध्यानं निर्विषयं मनः।-सांख्य सू. ६) यह स्थिति पतंजलि के स्वीकृत निर्विचार समाधि के बाद की स्थिति है। षट्चक्र निरूपण (१.१३), ब्रह्मनिर्वाण तन्त्र (३.२६) आदि ग्रन्थों में मूलाधार आदि चक्रों में ध्यान करने का निर्देश मिलता है, जिससे यह माना जा सकता है कि कुण्डलिनी साधनापरक ग्रन्थों में पतञ्जलि स्वीकृत ध्यान का स्वरूप ही स्वीकार किया जाता है, जिसमें किसी स्थल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्त की एकतानता को ध्यान माना गया है। दत्तात्रेय योगशास्त्र तथा योगतत्त्व (८४.१० सू.) आदि ग्रन्थों में इन चक्रों में चित्त के स्थिरीकरण को पंचभूत धारणा माना है। इनके अनुसार आकाश में अर्थात् शून्य में चित्त का २४ घंटे स्थिर होना ध्यान है। इस शून्य स्थान में साधक अपने इष्ट देवता को स्मरण करता है।[१] इष्टदेवता का एक स्वरूप साधक के मन में रहता है। वहाँ इसे सगुणध्यान कहा गया है। इसके अतिरिक्त निर्गुणध्यान की भी वहाँ स्वीकृति है, जिसमें मन में इष्टदेवता की मूर्ति भी नहीं रहती। अर्थात् ध्यान के प्रथम रूप में मन में विषय रहता है, जबकि द्वितीय अर्थात् निर्गुण ध्यान में कोई विषय नहीं रहता। निर्गुण ध्यान पुष्ट होकर जब बारह दिन या अधिक बना रहता है, तब उसे समाधि कहते हैं।

जैन परम्परा में ध्यान शब्द चित्त की देश विशेष में एकतानता और चित्त की निर्विषयता दोनों अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इनके अतिरिक्त चिन्तन अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग जैन साधना क्रम में हुआ है। इतना ही नहीं, साधना की दृष्टि से जितना सुस्पष्ट और क्रमिक विवरण जैन परम्परा में प्राप्त होता है, वैसा पातञ्जल योग सूत्र की व्याख्याओं, दत्तात्रेय योगशास्त्र अथवा अमनस्कयोग योगरत्नाकर आदि ग्रन्थों में सुलभ नहीं है। जैन परम्परा में स्थूल रूप से प्रथम तीन प्रकार स्वीकार किये जाते हैं–**कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान** और **मानसिक ध्यान**। ध्यानयोग का साधक जब शरीर को निष्कम्प–स्थिर करने के उद्देश्य से स्थिरकाय बनता है, तब वह उसका कायिक ध्यान होता है। इसी प्रकार संकल्पपूर्वक वचनयोग को स्थिर करना **वाचिक ध्यान** कहलाता है। संकल्पपूर्वक मन को एकाग्र करना **मानसिक ध्यान** है। साधक जब मन को एकाग्र करके वाणी और शरीर को भी उसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित रखता है तब कायिक, वाचिक और मानसिक–तीन ध्यान एक साथ हो जाते हैं। वस्तुतः मन, वचन और काय तीनों का निरोध होकर एकत्र स्थिरता ही ध्यान है क्योंकि ध्यान की पूर्णता संवरयोग में होती है। संवर आस्रव का निरोध है तथा आस्रव मन, वचन काय की प्रवृति है, अतः मन, वचन और काय तीन के निरोध और उनकी स्थिरता में ही ध्यान की पूर्णता मानी जा सकती है, अन्यथा नहीं। ध्यान की इस अवस्था में साधक का चित्त अपने आलम्बन में पूर्ण एकाग्र हो जाता है। इस स्थिति में वह चेतना के विराट् सागर में लीन हो जाता है, वाणी और काय भी उसमें ही लीन हो जाते हैं, तीनों एकाग्र होकर पूर्ण स्थिर हो जाते हैं। इस साधना से साधक में असीम शक्ति का संचय होता है और उसके फलस्वरूप उसमें अपूर्व स्फूर्ति आ जाती है। अन्तर्दृष्टि स्वयमेव जागृत हो जाती है, उसकी लेश्या रूपान्तरित होने लगती है, आभा मंडल स्वच्छ हो जाता है, मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यन्त सभी चेतना केन्द्र जागृत हो जाते हैं और साधक अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वामी हो जाता है। इस ज्ञानाग्नि से कर्म भस्मसात् हो जाते हैं, कर्मबन्धनों के कट जाने से साधक जन्म-मरण के बन्धन से छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान साधना का प्रारम्भ प्रेक्षा ध्यान से करना चाहिए। प्रेक्षा का अर्थ है देखना, केवल देखना, संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, आशा-अभिलाषा इन सबसे रहित होकर देखना, चित्त को विचारों से सर्वथा रहित करके देखना। यदि मन में किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति होगी, तो देखने का कम भंग हो जायेगा, प्रेक्षा नहीं होगी। प्रारम्भ में यदि विचार आते हैं, तो उनसे भी न बंधना, न उनका अनुमोदन करना, न प्रतिरोध करना, बल्कि तटस्थ होकर उन्हें भी देखते रहना। प्रतिरोध भी एक प्रकार का उनसे जुड़ाव ही है, अतः प्रतिरोध भी न करना। प्रेक्षा से संकल्प-विकल्प आदि से रहित होकर देखने से, विचारों का क्रम टूटता है, निर्विचार की स्थिति आती है। इस प्रकार निर्विचार अवस्था, जिसे शैव-साधकों की परम्परा में अमनस्क भाव कहा जाता है, को प्राप्त करने के लिए प्रेक्षा ध्यान अमोघ साथन है।

साधना की दृष्टि से प्रेक्षा ध्यान के अनेक भेद कहे जा सकते हैं, तथापि सुविधा की दृष्टि से इसके छः भेद माने जाते हैं : (१) कायप्रेक्षा, (२) श्वास प्रेक्षा, (३) विचारप्रेक्षा अर्थात् संकल्प-विकल्पों को देखना, (४) कषायप्रेक्षा अर्थात् आवेग-संवेगों को देखना, (५) पुद्‌गल द्रव्य प्रेक्षा और (६) वर्तमान क्षण की प्रेक्षा।

कायप्रेक्षा के तीन स्तर हैं–स्थूलकायप्रेक्षा, तैजस् कायप्रेक्षा और कार्मणकायप्रेक्षा। कायप्रेक्षा का प्रारम्भ स्थूलकाय की प्रेक्षा से होता है। स्थूलकायप्रेक्षा के भी अनेक स्तर हैं। कायप्रेक्षा की साधना के लिए साधक किसी ऐसे आसन में सुस्थिर हो कर बैठता है, जिससे साधना हेतु देर तक बैठने में असुविधा या पीड़ा न हो । बैठने के समय मेरुदण्ड (Spinal Cord) सीधा रहे। शवासन में लेटकर भी कायप्रेक्षा की जा सकती है। रोगी अथवा जिन्हें देर तक किसी आसन में बैठने का अभ्यास नहीं है, उनके लिए शवासन ही सर्वोत्तम है। इसके बाद साधक आँखें बन्द करके ललाट अथवा पैर के अंगूठे से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण शरीर का निरीक्षण करता है, अंग-प्रत्यंग की स्थिति और गति का सूक्ष्म अनुभव करता है। इस स्थूल शरीर की प्रेक्षा के समय साधक का चित्त शरीर के उस भाग पर ही रहता है, जिस भाग की वह प्रेक्षा करता है, अन्य किसी प्रकार के सम्बद्ध या असम्बद्ध विचारों को भी वह चित्त में स्थान नहीं देता है। वह शरीर के ऊँचे-नीचे समतल सभी भागों की उनकी उन्नतता और अवनतता का अनुभव करता है, उनकी स्थिति और गति का अनुभव करता है। यह स्थूलकायप्रेक्षा की प्रथम स्थिति है।

कायप्रेक्षा की दूसरी स्थिति में साधक शरीर के मर्मस्थानों, केन्द्रस्थानों और चक्रों की प्रेक्षा करता है। इसमें वह शरीरगत प्रत्येक यन्त्र की कार्यप्रणाली, उसके शक्तिस्रोतों, उसके जीवन-स्रोतों का निरीक्षण करता है। प्रत्येक अंग में स्थित असंख्य कोशिकाओं की गति का, उनकी उत्पत्ति, विकास और विनाश का साक्षात्कार करता है, असंख्य स्नायुओं का जाल देखता है, उनमें रक्तसंचार गति और चेतना के प्रवाह को देखता है। इस क्रम में उसे शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनित्यता, अशुचिता आदि का बोध होता है जिसके फलस्वरूप शरीर के प्रति उसका मोह क्षीण होने लगता है, अपने शरीर के प्रति भी जुगुप्सा भाव पनपने लगता है, जो कालान्तर में पूर्ण वैराग्य का हेतु बनता है। स्थूलकाय की प्रेक्षा का अभ्यास हो जाने पर साधक सूक्ष्मकाय, जिसे तैजसूकाय भी कहते हैं, की प्रेक्षा करना प्रारम्भ करता है। सूक्ष्मकाय में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार, अन्तःकरण, प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ये दस प्राण और आत्मा आते हैं। साधक क्रमशः इनकी प्रेक्षा करता है। इनके स्वरूप, स्थिति और कार्यों का निरीक्षण करता है। चेतना के केन्द्रभूत चक्रों की प्रेज्ञा करता है, उनमें अद्‌भुत ज्योति का साक्षात्कार करता है।

तैजस् कायप्रेक्षा के बाद साधक कार्मण काय की प्रेक्षा करता है, जिसे कारण शरीर भी कहते हैं। कार्मणकाय की प्रेक्षा के क्रम में वह क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्मों के समूह को, कर्मों के संस्कारों को देखता है, जिनके कारण उसे यह मानव शरीर मिला है और सुख-दुःख के विविध रूप परिणाम प्राप्त हो रहे हैं, कर्म और कर्मफल के सम्बर्न्ध को देखता है, पहचानता है।

इस कायप्रेक्षा के परिणामस्वरूप साधक प्रमादरहित होकर सतत जागरूक हो जाता है, वह जन्म-जन्मान्तर के रहस्य को पहचान लेता है, फलत मोक्ष साधना में वह दृढ़तापूर्वक प्रवृत्त हो जाता है।

श्वासप्रेक्षा–प्रेक्षा ध्यान का दूसरा रूप श्वासप्रेक्षा है। इसमें साधक नासिका मार्ग से आने जाने वाले श्वास-प्रश्वास की गति की प्रेक्षा करता है। श्वास-प्रश्वास, प्राण और मन तीनों परस्पर सतत सम्बद्ध और सहचारी है। नाड़ी संस्थान भी उसके साथ जुड़ा हुआ है; अतः श्वासप्रेज्ञा में साधक इनकी स्थिति, गति और उसके प्रभाव की प्रेक्षा करता है।

श्वास-प्रश्वास की गति दो प्रकार की होती है; सहज और प्रयत्नपूर्वक। प्रयत्नपूर्वक श्वास-प्रश्वास की गति को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम साधना अष्टांग योग का चतुर्थ अंग है। हठयोग की वह प्रधान क्रिया है, उसका वर्णन यहाँ अप्रासंगिक है।[२] सहज और सप्रयत्न दोनों ही प्रकार के श्वास-प्रश्वास की प्रेक्षा से अनेक रोगों की निवृत्ति होकर सामान्य स्वास्थ्य की प्राप्ति तो होती ही है; साधक को सुषुम्णा पर विजय प्राप्त हो जाती है, उसकी इच्छानुसार दक्षिण या वाम नासापुट से उसका श्वास चलने लगता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनोवेगों पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है और चंचल चित्त पूर्णतः उसके वश में हो जाता है।

विचार प्रेक्षा या संकल्प-विकल्पों की प्रेक्षा–श्वासप्रेक्षा के अभ्यास से साधक सूक्ष्म द्रष्टा बन जाता है। विचार प्रेक्षा में वह स्थूल और सूक्ष्म शरीर से भी गहराई में पहुँचकर चेतन, अवचेतन और अचेतन मन को देखने समझने लगता है। वह चेतन मन में उठने वाले संकल्प-विकल्पों को तटस्थभाव से देखता है और धीरे-धीरे उनके ध्यान से अवचेतन मन में और उसके बाद अचेतन मन में पहुँचता है। कालान्तर में अपने सम्पूर्ण संस्कारों का साक्षात्कार कर लेता है क्योंकि संस्कार ही हमारे सुखों-दुःखों, व्यवहारों और वर्तमान कर्मों के नियामक होते हैं। अतः संस्कारों का साक्षात्कार होने पर साधक उनका निरसन कर लेता है, फलतः उसके राग, द्वेषादि, मन के संवेग जड़ मूल से नष्ट हो जाते हैं। संवेगों के शान्त हो जाने पर साधक की सभी क्रियाएँ निष्काम हो जाती हैं। निष्काम कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते। अतः साधक के लिए मोक्षमार्ग का द्वार खुल जाता है।

कषायप्रेक्षा–कषाय का अर्थ काम, क्रोध आदि मनोवेग हैं। ये (काम, क्रोध आदि) सूक्ष्म रूप में हमारे कार्मण शरीर अर्थात् संस्कारों में भरे पड़े रहते हैं, और उत्तेजक परिस्थिति मिलने पर प्रकट होते हैं। सामान्य जन अभिव्यक्ति होने पर इन्हें पहचान पाता है, किन्तु संकल्प-विकल्पों की प्रेक्षा में दक्षता प्राप्त साधक अवचेतन मन की गहराई तक पहुँचकर इनका, इनके कारणों का और उनके कार्यों अर्थात् परिणामों का साक्षात्कार तटस्थ होकर करता है। उसके परिणामस्वरूप आवेग संवेग उपशान्त हो जाते हैं, उनके मूल कारण गलित हो जाते हैं और साधक सच्ची आध्यात्मिक शान्ति की ओर निर्बाध बढ़ने लगता है।

पुद्‌गल या अनिमेषप्रेक्षा–अनिमेष प्रेक्षा हठयोग की परम्परा के त्राटक के बहुत निकट है। किसी एक पुद्‌गल, भित्ति या फलक पर निर्मित बिन्दु, जिन प्रतिमा अथवा अपने आराध्य की प्रतिमा के समग्र अंश अथवा बिन्दु विशेष पर अथवा नासाग्र पर अनिमेष अर्थात् पलक झपकाये बिना स्थिर रूप से देखना पुद्‌गल प्रेक्षा या अनिमेष प्रेक्षा है। सामान्यतः मानव मस्तिष्क के असंख्य ज्ञानकोषों में केवल कुछ ही क्रियाशील रहते हैं, शेष सुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता उन सुप्त कोशों में विद्यमान रहती है। किन्तु इन कोशों के सुप्त अवस्था में पड़े रहने से मानव अल्पज्ञ बना रहता है। अनिमेष प्रेक्षा से ये सुप्त ज्ञानकोश क्रियाशील हो जाते हैं, फलतः साधक अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है।

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा–वर्तमान क्षण भूत और भविष्य की विभाजक रेखा है। यह क्षण तलवार की धार की भांति सूक्ष्मतम है। सामान्यतः मानव वर्तमान को भूलकर भूत और भविष्य के मध्य जीता है। भूत के क्षणों को स्मरण कर राग-द्वेष के झंझावाती थपेड़ों में स्वयं को पीड़ित करता है और भविष्य के क्षणों की कल्पना में नाना संकल्प-विकल्पों के जाल बुनता हुआ उसमें निरन्तर उलझता जाता है, जो उत्तरोत्तर बन्ध का कारण बनता है। वर्तमान क्षण की प्रेक्षा की साधना से साधक राग द्वेष मान मत्सर आदि विकारों से और अनन्त संकल्प-विकल्पों के ज्ञान से मुक्त हो जाता है। इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा है 'खणं जाणाहि पंडिए' अर्थात् जो वर्तमान क्षण को जानता है, वही ज्ञानी है। वर्तमान क्षण की प्रेक्षा एकाग्रता का उत्कृष्टतर रूप है, जहाँ सूक्ष्मतम कालबिन्दु पर चित्त की एकाग्रता होती है। इस प्रेक्षा को पतञ्जलि स्वीकृत निर्विचार समाधि के समानान्तर कहा जा सकता है। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार करता है कि अणु का विखण्डन करने से अतुल ऊर्जा का स्फुरण होता है, उसी प्रकार वर्तमान क्षण की प्रेक्षा से अनन्त ज्ञान का भण्डार खुल जाता है। पतंजलि की भाषा में ऋतम्भरा प्रज्ञा का स्फुरण हो जाता है। यह प्रज्ञा (बोध) लोकोत्तर होती है, प्रत्यक्ष अनुमान इससे बनने वाले संस्कार पूर्व संस्कारों को समाप्त कर अन्त में स्वयं भी विलीन हो जाती है। कर्मबन्ध का नाश हो जाता है, साधक के लिए मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

लेश्या ध्यान–कर्म संस्कारों सहित आत्मप्रदेशों का स्पन्दन लेश्या है। आत्मप्रदेश में यह स्पन्दन मोहनीय कर्मों के उदय, क्षयोपशम उपशम और क्षय के कारण होता है।[२] यह स्पन्दन कषायों से उपरंजित होता है (कषायोदयारंजिता योगप्रवृतिः) सर्वार्थसिद्धि, २/६/१५९ [११]। ध्यान द्वारा इन कषायों का शोधन होता है। ये कषाय कर्मसंस्कार रूप हैं। कर्मसंस्कारों से भावों की सृष्टि होती है। भाव सामान्यतः रूप और आकारहीन प्रतीत होते हैं, जबकि उनमें वर्ण (रूप) होता है। यह रूप इतना सूक्ष्म होता है कि चर्म चक्षुओं से प्रायः नहीं दिखायी पड़ता। प्राचीन मनीषियों ने इस वर्ण का साक्षात्कार किया था। इसी आधार पर सांख्यकारिका और उपनिषदों में सत्त्व, रजस् और तमस् इन गुणों को शुभ्र, लोहित और कृष्ण वर्ण वाला माना गया है। दिव्य पुरुषों के शिर के पीछे तेजोमय प्रभामण्डल की कल्पना भावों के रूप के आधार पर की गयी है। आधुनिक विज्ञान ने भी विशेष फोटो कैमरा के माध्यम से भावमण्डल के अनेक वर्णों के चित्र भी प्राप्त किये हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मसंस्कारों से जीव में जो भाव (विचार) के रूप में स्पन्दन होता है, वह अनेक वर्ण का हुआ करता है। प्राचीन मनीषियों ने अत्यन्त अशुभ भावों का वर्ण काला और अत्यन्त शुभ भावों का वर्ण शुभ्र माना है। इनके मध्य में अर्थात् श्याम से शुभ्र के बीच नीलवर्ण, कापोत वर्ण, तेजोमय (लाल) पद्मवर्ण (पीला) ये चार वर्ण और माने हैं। अर्थात् अत्यन्त अशुद्धतम भावों की लेश्या कृष्णवर्ण, अशुद्धतर की नील, अशुद्ध की कापोत वर्ण, शुद्ध की अग्निवर्ण (लाल), शुद्धतर की पद्मवर्ण (पीली) और शुद्धतम की लेश्या शुभ्र (शुक्ल) वर्ण की होती है। ये रंग इन लेश्याओं के पुद्गल परमाणुओं के होते हैं। लेश्याध्यान में इन वर्णों का ही ध्यान किया जाता है।

क्लिष्ट और अक्लिष्ट भावों की दृष्टि से भी इन लेश्याओं को देखा जा सकता है। क्लिष्ट भाव के तारतम्य के आधार पर दो और भेद होंगे–क्लिष्टतर और क्लिष्टतम। इसी प्रकार अक्लिष्ट भावों के अक्लिष्टतर तथा अक्लिष्टतम दो अन्य भेद होंगे। इस प्रकार क्लिष्टतम, किलष्टतर, क्लिष्ट, अक्लिष्ट, अक्लिष्टतर और अक्लिष्टतम कुल छः भेद होंगे। इन भावों से सम्बद्ध लेश्याएँ क्रमशः कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होंगी। इस प्रकार लेश्याओं के वर्ण (रंग) विविध स्तरों में विद्यमान अशुभ अथवा शुभ और क्लिष्ट अथवा अक्लिष्ट कर्मसंस्कारों और उनके कारण आत्मा में होने वाले स्पन्दनों के प्रतीक हैं।

लेश्याध्यान की साधना सिद्धगुरु के निर्देश से करनी चाहिए, क्योकि वह ही भली प्रकार निर्णय दे सकता है कि किस व्यक्ति में किस लेश्या की प्रधानता है। इसलिए उसे किस वर्ण की लेश्या से ध्यान प्रारम्भ करना चाहिए। सामान्यतः अत्यन्त अशुभ विचारों वाले, अकारण बिना किसी निज स्वार्थ सिद्धि अथवा लोकहित की संभावना के बहाने दूसरों को पीड़ा देने वाले व्यक्ति को कृष्ण लेश्या का मनुष्य समझना चाहिए और उसे काले रंग पर ध्यान करना चाहिए। स्वार्थसिद्धि के लिए दूसरों को अधिक हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति को नील लेश्या का समझना चाहिए और उन्हें नीले रंग पर ध्यान करना चाहिए। स्वार्थसिद्धि के लिए कुछ हिचकते हुए दूसरों को पीड़ा पहुँचाकर कार्यसिद्धि की कामना रखने वाले कापोत लेश्या वाले होते हैं। उन्हें कापोत वर्ण अथवा हरे रंग पर ध्यान करना चाहिए। स्वार्थ हानि की सम्भावना न होने पर अर्थात् अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए परोपकार, सेवा-सर्वजन हितकारी कार्य करने वाले व्यक्ति तेजोलेश्या वाले होते हैं, उन्हें लाल रंग से ध्यान साधना प्रारम्भ करनी चाहिए। अपनी स्वार्थ हानि करके भी लोकोपकार करने वाले सत्पुरुष पद्मलेश्या वाले होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को पीले रंग पर ध्यान करना चाहिए। सब कुछ लुटाकर स्वयं को संकट में भी डालकर दूसरों का हित करने वाले अथवा सर्व समत्व की भावना में प्रतिष्ठित व्यक्ति शुक्ल लेश्या वाले पुरुष हैं। उन्हें शुक्ल वर्ण पर ध्यान करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति ध्यान प्रारम्भ करते ही समाधि में पहुँच जाते हैं। कुछ तो समाधि भाव में सदा रहते ही हैं।

कृष्णवर्ण से लेकर पद्म (पीत) वर्ण तक सभी वर्णों में श्यामिता अवश्य रहती है। कृष्ण में सर्वाधिक, नील में कुछ कम, कापोत में उससे कम, लाल में अल्प और पीले में अल्पतर, शुक्लवर्ण श्यामिता से रहित होता है। लेश्या के वर्ण को पहचानकर कृष्ण, नील अथवा किसी वर्ण पर ध्यान प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति क्रमशः अपने कर्मसंस्कारों में श्यामिता (कालुष्य) को क्षय करने का संकल्प लेता है, उसके लिए प्रयत्न करता है और उत्तरोत्तर संस्कार शुद्धि करता हुआ कृष्ण को नील में, नील को कापोत में, कापोत को लाल में, लाल को पद्म (पीले) में तथा पद्म को शुक्ल में परिवर्तन करता है क्योंकि यह परिवर्तन कर्मसंस्कारों में होता है, इसलिए बहुत मन्द होता है, देर लगती है। यदि रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना साथ-साथ चलती है, तो एक जन्म में ही अन्यथा एकाधिक जन्म में साधक शुक्ल ध्यान का अधिकारी हो जाता है।

लेश्याध्यान-साधना के प्रसंग में जैन आचार्यों की मान्यता है कि अत्यन्त सामान्य साधक कृष्ण लेश्या में ध्यान साधना करते हुए श्यामिता की निवृत्ति करके जब नील लेश्या की स्थिति में पहुँचता है, तो उसका स्वाधिष्ठान चक्र संयमित (जागृत) हो जाता है, उसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का लाभ होता है, भूख पर नियंत्रण हो जाता है, क्रूरता, हिंसात्मक प्रवृत्ति विलीन हो जाती है। कापोत ध्यान तक पहुँचते-पहुँचते, उसके स्नायु पीड़ा की अनुभूति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से रहित हो जाते है, उसमें दूरश्रुति दूरदृष्टि की शक्ति आ जाती है, बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती है, वह अन्तर्मुखी हो जाता है। पापवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, सत्यनिष्ठा प्रामाणिक प्रातिभज्ञान और विनय उसके स्वभाव में बस जाते हैं। कापोत लेश्या पर ध्यान से काम, क्रोध, लोभ, मोह शान्त हो जाते हैं, शरीर रोग आदि से रहित पूर्ण शुद्ध और निर्मल हो जाता है। तेजोलेश्या में ध्यान से चेतना संस्थान पूर्ण सक्रिय हो जाता है, अन्तश्चेतना के विविध आयाम खुल जाते हैं। पद्म लेश्या में ध्यान से मस्तिष्क के सभी आयाम खुल जाते हैं, दर्शन केन्द्र और आनन्द केन्द्र जागृत हो जाते हैं और जब साधक शुक्ल लेश्या में ध्यान की स्थिति में पहुँचता है, तो उसकी चेतना के बाह्य मन के साथ अवचेतन और अचेतन मन से भी कषाय मिट जाते हैं, उसमें ऐसी अपूर्व शक्ति आ जाती है कि उसके सान्निध्य में सब प्राणियों के वैर-विरोध मिट जाते हैं, उसके नाम के स्मरण मात्र से सहस्रों व्यक्ति शान्ति की अनुभूति करते हैं। आज्ञाचक्र के अनुप्राणित हो जाने से अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ही नहीं, केवल ज्ञान की भी उसे प्राप्ति हो जाती है। ध्यान साधना का यह सर्वोत्तम फल साधक को प्राप्त हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टि से ध्यान के प्रकार–स्वरूप की दृष्टि से जैन आगमों में ध्यान के चार प्रकार माने गये हैं–(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। इनमें प्रथम दो को अप्रशस्त तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान को प्रशस्त ध्यान माना गया है।

इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, प्रतिकूल वेदना अथवा पीड़ा का चिन्तन एवं कामोपभोगों की लालसा आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं।

हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषय संरक्षणानुबन्धी ध्यान रौद्रध्यान के भेद हैं।

धर्मध्यान–साधारण रूप से धर्मध्यान का अर्थ लिया जाता है; आर्त्त और रौद्र ध्यान से भिन्न और धर्म से निर्देशित साधक के सभी क्रिया-कलाप और विचारणाएँ। किन्तु धर्मध्यान की सीमाएँ इतनी संकुचित नहीं हैं। धार्मिक अनुचिन्तन, तत्त्व विचारणा और तत्त्व चिन्तन के साथ धर्मध्यान में तत्त्व साक्षात्कार भी सम्मिलित है। इस साक्षात्कार के अनुरूप व्यवहार अर्थात् सम्यक्चारित्र का भी समावेश अभीष्ट है। वस्तुतः ज्ञान (विद्या) की परिपक्वता व्यवहार में ही होती है। तभी तो महर्षि पतञ्जलि ने कहा है–"**चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेन इति।**"

अर्थात् विद्या की उपयुक्तता अथवा पूर्णता चारों सोपानों को लांघने पर ही हो पाती है वे सोपान हैं–आगम (श्रवण या अध्ययन) स्वाध्याय (चिन्तन-मनन) प्रवचन (आग्रह रहित परिचर्चा) और व्यवहार अर्थात् जीवन में आचारण। जैन परम्परा भी सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को सार्थक नहीं मानती। यदि एक वाक्य में हम कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि धर्मध्यान रत्नत्रय की साधना है–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की साधना है। ध्यान योगी अनन्त धर्मात्मक अनन्त पर्यायात्मक जागतिक पदार्थों को एक-एक करके प्रत्येक पर्याय को, प्रत्येक धर्म को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करता है, समग्र रूप से अनन्त पर्यायात्मक विश्व को जानने का प्रयत्न करता है। यह उसकी मोक्ष साधना का प्रथम सोपान होता है।

धर्मध्यान के अधिकारी भी सब नहीं बन पाते। आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढ़रुचि ये चार गुण किसी साधक को धर्मध्यान का अधिकारी बनाते हैं। इनके बिना कोई साधक धर्मध्यान में सफल होना कौन कहे, प्रवृत्त भी नहीं हो पाता। यदि किसी पुण्य प्रताप से प्रवृत्ति हो भी गयी तो स्थिरता नहीं बन पाती। यदि किसी साधक में उपर्युक्त चारों रुचियाँ विद्यमान हैं तो निश्चय ही कुछ काल की साधना से ही उसका चित्त पूर्ण पवित्र हो जायेगा और उसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का विकास होने लगेगा।

धर्मध्यान के भेद–जैन आगमों में धर्मध्यान के चार भेद बताये गये हैं–आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञाविचय–आज्ञाविचय का अर्थ है तत्त्वश्रद्धान। अहिंसा सर्वज्ञ भगवान् के आदेशों पर श्रद्धापूर्वक विचार करना, चिन्तन मनन करना, साक्षात्कार करना और उन्हें जीवन में आत्मसात् करना, व्यवहार में उतारना–आज्ञाविचय में सम्मिलित है।

अपायविचय–अपायविचय में राग-द्वेष, क्रोध, कषाय, मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति आदि दोषों का निवारण करने के लिए उपायों का चिन्तन और उनके द्वारा दोषों का निवारण किया जाता है।

विपाकविचय–विपाकविचय धर्मध्यान में शुभ और अशुभ कार्यफलों का अनुभव करते हुए उनके कारणभूत कर्मों, भावनाओं तक का अनुसन्धान करके साधक उनसे मुक्त होने के ळिए क्रमशः गुणस्थानों में आरोहण करते हुए, आत्मा से कर्म सम्बन्ध के विच्छेद के लिए चिन्तन करते हुए तदनुकूल साधना करता है।

संस्थानविचय–चतुर्थ धर्मध्यान संस्थानविचय की साधना में ध्यानयोगी लोक के स्वरूप, छः द्रव्यों के गुण-पर्याय, संसार, द्रव्यों के उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय, लोक की शाश्वतता और अशाश्वतता, द्रव्य की परिणामीनित्यता, जीव की देव, मनुष्य, नारक और तिर्यञ्च गति आदि का चिन्तन करके आत्मशुद्धि करता है।

धर्मध्यान की इस साधना में वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और धर्मकथा ये चार आलम्बन होते हैं। एकत्वानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और संसारानुप्रेक्षा धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं, जिनके माध्यम से ध्यानयोगी तत्त्व साक्षात्कार तक पहुँचता है।

ध्यान के आलम्बन की दृष्टि से ध्यान के चार भेद हो सकते हैं–पिण्डस्थ ध्यान, पदस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान और रूपातीत ध्यान। इनके अतिरिक्त ध्येय की दृष्टि से, योग की दृष्टि से भी ध्यान के अनेक भेद होते हैं। विस्तारभय से हम यहां उनकी चर्चा अथवा उनका परिचय नहीं दे रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फल—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि धर्मध्यान मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है। धर्मध्यान की साधना से लेश्याओं की शुद्धि, वैराग्य की प्राप्ति और शुक्लध्यान की योग्यता प्राप्त होती है और शुक्लध्यान के माध्यम से साधक मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

शुक्ल ध्यान—लेश्याध्यान के प्रसंग में शुक्ल लेश्या ध्यान की चर्चा हुई है। शुक्लध्यान और शुक्ल लेश्याध्यान भिन्न होते हुए भी स्थिति की दृष्टि से दोनों समान हैं। शुक्ल लेश्या ध्यान में शुभतम, अक्लिष्टतम कर्मसंस्कारों का ध्यान किया जाता है, जबकि शुक्लध्यान में साधक विषयहीनता की ओर क्रमशः उन्मुख होता है, जो मन की शुभतम स्थिति है।

शुक्लध्यान का अधिकारी सर्वसामान्य साधक नहीं होता। चित्त में जब तक कषाय का लेश भी है, तब तक शुक्लध्यान संभव नहीं है। निरन्तर साधना से जब चित्तगत कषाय क्षीण हो जाते हैं, साधक साधना के माध्यम से आरोह क्रम से बारहवें गुणस्थान (क्षीणकषाय) में पहुँच जाता है, तब वह शुक्लध्यान का अधिकारी होता है। उस अवस्था में उसमें अव्यथ, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग लिङ्ग व्यक्त होते हैं। वह सभी प्रकार के परीषहों को निर्विकार भाव से सहन करता है (अव्यथ)। किसी प्रकार के आकर्षण उसकी श्रद्धा को विचलित नहीं कर पाते। (असम्मोह)। उसका तत्त्व विषयक विवेक इतना सूक्ष्म होता है कि जीव-अजीव आदि के सम्बन्ध में उसके चित्त में भ्रम और सन्देह का लेश भी नहीं रहता (विवेक)। उसमें किसी प्रकार की आसक्ति या कामना नहीं रहती। भोगेच्छा, यश की इच्छा उसके पास भी नहीं फटकती (व्युत्सर्ग)। उसके लिए सभी प्रकार के आकर्षण तृणवत् होते हैं। वह वीतराग होता है। क्षमा, मार्दव (नम्रता), आर्जव (निष्कपटता) और लोभ आदि कषायों से मुक्ति उसके आलम्बन होते हैं।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं अर्थात् शुक्लध्यान करने वाला योगी निम्नलिखित चार विषयों का चिन्तन मनन करता है—**अनन्तवर्त्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा** और **अपायानुप्रेक्षा**। अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा का तात्पर्य है काल की दृष्टि से भवपरम्परा (संसार) अनन्तता का चिन्तन। विपरिणामानुप्रेक्षा का अर्थ है समस्त वस्तुओं की परिणमनशीलता का चिन्तन। क्योंकि वह अनुभव करने लगता है कि कोई भी पदार्थ न एकान्ततः शुभ है, न अशुभ। अतः उनके प्रति उसकी हेय-उपादेय बुद्धि समाप्त हो जाती है। विश्व के समस्त पदार्थों के प्रति वह उदासीन अर्थात् आसक्तिरहित हो जाता है। अशुभानुप्रेक्षा के फलस्वरूप वह संसार के अशुभ रूप का साक्षात्कार कर लेता है, फलतः निर्वेदभाव में उत्तरोत्तर प्रबल हो जाता है। अपायानुप्रेक्षा में वह समस्त शुभ और अशुभ माने जाने वाले विषयों (पदार्थों) और व्यवहारों में अपाय अर्थात् दोष का दर्शन करता है, फलतः आस्रव से पूर्णतः विरक्त हो जाता है।

शुक्लध्यान के चार प्रकार माने जाते हैं—पृथक्त्व वितर्क सविचार, एकत्ववितर्क निर्विचार, सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और व्युपरत क्रियानिवृत्ति।

प्रथम पृथक्त्व पृथक्त्व वितर्क सविचार में वह विश्वप्रपञ्च के प्रत्येक पदार्थ के प्रत्येक अवयव में भेद का, पृथकृता का दर्शन करता है। इस अवस्था में चित्त में विचलन (चंचलता) न रहते हुए भी वह भिन्न-भिन्न वस्तुओं, पर्यायों में संक्रमित होता रहता है।

द्वितीय अर्थात् एकत्व वितर्क निर्विचार साधक जागतिक पदार्थों के अनन्त सूक्ष्मतम अवयवों (परमाणु आदि) में अन्यतम का सूक्ष्मतम का चिन्तन करता है। शुक्ल ध्यान के इन दोनों प्रकारों को महर्षि पतञ्जलि स्वीकृत सूक्ष्मविषयक सविचार और निर्विचार सम्प्रज्ञात समाधि के सामानान्तर कहा जा सकता है। ये दोनों ध्यान प्रकार बारहवें गुणस्थान में स्थित योगी के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्लध्यान में योगी काय योग को क्रमशः सूक्ष्म करता है। यह स्थिति तेरहवें गुणस्थान (सयोगकेवली) में आरोहण करने पर आती है। यहाँ पहुँचा हुआ साधक फिर कभी पीछे नहीं मुड़ता। वह इस ध्यान में काय योग को क्षीण कर लेता है, श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मक्रिया मात्र शेष रह जाती है। इस स्थिति में वह चौदहवें गुणस्थान (अयोगकेवली) में आरूढ़ होकर शुक्लध्यान के अन्तिम चरण समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति में पहुँचता है। उसकी समस्त क्रियाओं का निरोध हो जाता है। स्थूल सूक्ष्म कायिक, वाचिक, मानसिक सभी व्यापार उच्छिन्न हो जाते हैं। इस अवस्था में आत्मा पूर्ण रूप से निष्कम्प निष्कलङ्क बन जाती है। उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार शुक्लध्यान मोक्षप्राप्ति का अन्तिम सोपान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यान की परिभाषा विविध परम्पराओं से भिन्न-भिन्न रूप से की गयी है। कपिल की ध्यान की परिभाषा मतंजलि की समाधि की परिभाषा के समानान्तर है। जैन परम्परा में भी समाधि शब्द का प्रयोग न करके चित्तलय की अवस्था तक को ध्यान ही कहा है; किन्तु इतना सुनिश्चित है कि जैन परम्परा में ध्यान के विविध पक्षों अथवा उससे सम्बन्धित विषयों का जितना सूक्ष्म विवेचन हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हुआ है।

स्वामी केशवानन्द योग संस्थान
B-२/१३९-१४० सेक्टर ६, रोहिणी ७,
दिल्ली—८५

१. समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाः षष्टिमेव च।
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति॥ *—योगतत्त्व १०४*
सगुणध्यानमेवं स्यादणिमादि गुणप्रदम्।
दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात्॥ *—योगतत्त्व १०५-१०६*

२. प्राणायाम साधना के लिए हमारा राजयोग साधना और सिद्धान्त नामक ग्रन्थ देखिये।

३. मोहोदयखओवसमोवसमखग जीव फंदणं भावो। *—गोम्मटसार जीवकाण्ड ५३६/९३१*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org